

वाहरू सोनवणे की कविता : आदिवासी चेतना की आहट और टकराहट



सियाराम मीणा

व्याख्याता,
हिन्दी विभाग,
राजकीय महाविद्यालय,
बूंदी, राजस्थान

सारांश

आदिवासी समाज आज के इस तथा कथित विकास के दौर में जल, जंगल, जमीन, भाषा, संस्कृति, परंपरा सहित अपने अस्तित्व के लिए जूझ रहा है। देश के विकासात्मक मॉडल में आदिवासी कहीं भी परिभाषित नहीं हैं। बाकी समाज और शासन-प्रशासन आदिवासी समाज के विकास से बेखबर है। सरकार और पूँजीपति औद्योगिक घराने उनकी जमीन, जंगल और जल को छीनते हुए उन्हें बेदखल करते जा रहे हैं। विकास की कई सीड़ियाँ पार कर चुका भारतीय समाज और राजनीति आदिवासियों के हित में नहीं सोच पा रहा है। आदिवासियों को समाज सुधार आन्दोलनों, राजनीतिक चेतना तथा तमाम सुधारात्मक प्रयासों के क्षेत्र से बाहर रखा गया जिसके कारण आज भी वह आत्मसम्मान और गौरव के भाव से दूर है। कवि वाहरू सोनवणे ने अपनी कविता के माध्यम से आदिवासियों की जर्जर जिन्दगी और उभरती चेतना को वाणी दी है। वाहरू सोनवणे महाराष्ट्र के भील समुदाय के महत्वपूर्ण कवि हैं। शायद पहले आधुनिक कवि। इसलिए उनके पास कविता रचना में शामिल करने के लिए एक ऐसा विपुल संसार है, जिस तक रचना की किरणें अब तक नहीं पहुँची है। कवि वाहरू की कविता की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे एक अत्यन्त पिछड़े समाज के सरल से लगने वाले सुख-दुख को देशी मुहावरे में व्यक्त करने के बावजूद अपने दृष्टिकोण में न केवल आधुनिक है बल्कि एक बड़े विजन के कवि हैं। देश के आदिवासी जब अपने हक अधिकार की बात करते हैं, दुख के लिए फुसफुसाते हैं, तो उनको डराया जाता है, धमकाया जाता है, मारा भी जाता है। वाहरू को दुख इस बात का है कि आदिवासी का दुख व्यवस्थाकारों के लिए अपना दुख कभी नहीं बना। वाहरू सोनवणे की कविता आदिवासी साहित्य लेखन को जबर्दस्त ढंग से महसूस करती है। क्योंकि अब तक साहित्य व चर्चाओं में आदिवासी उपेक्षित व गायब ही रहे हैं। बल्कि उनको अमानवीय ढंग से दूर रखा गया। केवल उसे भीड़ जुटाने का सामान समझा गया। 'मंच' कविता में वे इस सच को उजागर करते हैं—'हम मंच पर गये ही नहीं, और हमें बुला भी नहीं/उंगली के इशारे से/हमें अपनी जगह दिखाई गयी/हम वहीं बैठ गये; हमें शाबाशी मिली/और वे मंच पर खड़े होकर/हमारे दुख हमसे ही कहते रहे।' कवि वाहरू सोनवणे की कविता आदिवासी साहित्य चेतना के इतिहास में मील का पत्थर है। कविता का शिल्प विषय और अनुभूति की गहराई और वास्तविकता के कारण अपने आप बिंबों में चित्रबद्ध होकर ढल-सा गया है। जब वाहरू सोनवणे ने अपनी कविता को कविता से अनजान आदिवासियों को सुनाया तो उनकी प्रतिक्रिया थी कि 'सही है भाई! बिल्कुल सही है! सच है। ये कविता नहीं—यह तो हमारा जीवन है, जिसे तुमने जस का तस उतार कर रख दिया है।' आदिवासी जीवन, समस्या, संघर्ष और चेतना को समझने के लिए कवि वाहरू सोनवणे की कविता बेहद आवश्यक प्रतीत होती है।

मुख्य शब्द : आदिवासी, भाषा, संस्कृति, पलायन, विस्थापन, लोकतंत्र, विकास, आजादी, समानता, विसंगतियाँ, आत्मसम्मान, विजन, दुख, दर्द और जख्म, औद्योगिकीकरण, शिक्षा, राजनीति, ज्ञान-विज्ञान, अमानवीय, चेतना, विद्रोह, शोषण, अत्याचार, मेहनत-मजदूरी, अभिशप्त जीवन, बेकारी और बेगारी, पूँजीपति, मानवाधिकार, सुशासन, वैश्वकरण, बाजारवाद।

प्रस्तावना

विकास के आधुनिक मॉडल को प्राप्त कर चुके भारत का नक्शा अभी भी कई थिगलियों वाला और तार-तार बिखरता दिखाई दे रहा है। इसका

कारण भारतीय राजनीति में संवैधानिक प्रावधानों के विपरीत कार्यविधि, भारतीय लोकतंत्र का चुनावी राजनीति में फंस जाना, विकास की आधारभूत विसंगतियां, पूँजीपतियों व उद्योगपतियों का भारतीय राजनीति पर शिकंजा ही है। दलित और आदिवासियों के सामने आज भी लोकतंत्र और आजादी का कोई अर्थ नहीं रह गया है। लोकतांत्रिक निर्माण की प्रक्रिया में दलित-आदिवासी उपेक्षित कर हाशिए पर धकेल दिये गये और विकास की ओर कदम बढ़ाता भारत किसानों, दलितों और आदिवासियों को रौंदता हुआ आगे बढ़ रहा है। इनमें भी आदिवासियों के शोषण की कहानी आज नये-नये मोड़ लेती जा रही है। सरकार और पूँजीपति औद्योगिक घराने उनकी जमीन, जंगल और जल को छीनते हुए उन्हें बेदखल करते जा रहे हैं। विकास की कई सीड़ियां पार कर चुका भारतीय समाज और राजनीति आदिवासियों के हित में नहीं सोच पा रहा है। आदिवासियों को समाज सुधार आन्दोलनों, राजनीतिक चेतना तथा तमाम सुधारात्मक प्रयासों के क्षेत्र से बाहर रखा गया जिसके कारण आज भी वह आत्मसम्मान और गौरव के भाव से दूर है। वाहरू सोनवणे ने अपनी कविता के माध्यम से इन आदिवासियों की जर्जर जिन्दगी और उभरती चेतना को वाणी दी है।

उद्देश्य एवं साहित्य समीक्षा

भारत दुनिया का सबसे बड़ा लोकतांत्रिक देश है। लोकतांत्रिक व्यवस्था मात्र एक राजनीतिक शब्द नहीं है। इसका अपना एक सामाजिक स्वरूप और दायित्व होता है। सम्पूर्ण देश के सम्पूर्ण वर्गों का सर्वांगिक विकास लोकतंत्र की सफलता का मूल मंत्र है। लेकिन देश का आदिवासी आज अशिक्षा, शोषण, भूखमरी, उत्पीड़न, अत्याचार, बेदखली, बेकारी, बेराजगारी, बंधुआ मजदूर, पलायन और विस्थापन जैसी समस्याओं से जूझते हुये अपने अस्तित्व के लिए लड़ रहा है जिसमें वह नितांत अकेला है। विकास की दौड़ में वह मीलों दूर रह गया है। उसकी व्यथा-कथा की आवाज शासन-प्रशासन तक पहुंचाने वाला कोई नहीं है। दिक्कतों के लिए आदिवासी केवल वासना और पर्यटन की वस्तु मात्र है तो मीडिया के लिए सुर्खियां मात्र। ऐसे में आदिवासी साहित्य ही उनकी अभिव्यक्ति का एक मात्र माध्यम है। कवि वाहरू सोनवणे ने अपनी कविता के माध्यम से आदिवासी समाज की समस्याओं को जिस का तस हमारे सामने रख दिया है। आदिवासी जीवन संवेदना, अनुभूतियों, समस्याओं, संघर्ष और चेतना को समझने के लिए कवि वाहरू सोनवणे की कविता का अध्ययन बेहद आवश्यक प्रतीत होती है। इस शोध-पत्र का उद्देश्य वाहरू सोनवणे की कविता का गहन अध्ययन करते हुए कविता के माध्यम से आदिवासी जीवन की समस्याओं और अनुभूतियों को समझना और उजागर करना है।

जहां तक इस विषय में साहित्य समीक्षा का सवाल है। चूंकि वाहरू सोनवणे मूलतः मराठी भाषा के कवि हैं। इनकी कविताएं मराठी और भिलोरी भाषा से अनुदित होकर हिन्दी में आ रही हैं। एक पुस्तक निशिकांत ठकार व रमणिका गुप्ता के प्रयासों से हिन्दी

जगत के लिए सुलभ हुई है। जिन पर अभी अपेक्षित रूप से कार्य नहीं हुआ है।

कवि वाहरू सोनवणे एवं उनकी कविता

वाहरू सोनवणे महाराष्ट्र के भील समुदाय के महत्वपूर्ण कवि हैं। शायद पहले आधुनिक कवि। इसलिए उनके पास कविता रचना में शामिल करने के लिए एक ऐसा विपुल संसार है, जिस तक रचना की किरणें अब तक नहीं पहुंची हैं। उन्होंने मराठी में भी काफी कुछ लिखा है और इस भाषा में उनका नाम जाना पहचाना है। लेकिन उनका वास्तविक स्वर भिलोरी कविताओं में और भी उभर कर उगता है, जिसमें वे उन शब्दों से कविता रचना का उपक्रम कर रहे होते हैं, जो शब्द आज तक समुदाय की बोली बानी से ऊपर उठ कर किसी लिखित साहित्य का उपादान नहीं बन सके। कवि वाहरू अपनी हर कविता में संभावना का एक नया द्वार खोलते हैं। उनके पास एक निरन्तर जटिल होते समाज के उपात्त पर जी रहे आदिवासी जीवन की भूख है, करुणा है और विडम्बनाएं भी। कहीं उनका संघर्ष सामने आता है, तो कहीं कवि विसंगतियों और उत्पीड़न से जूझने के लिए उन्हें ललकारता हुआ भी दिखता है।¹

कवि वाहरू की कविता की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे एक अत्यन्त पिछड़े समाज के सरल से लगने वाले सुख-दुख को देशी मुहावरे में व्यक्त करने के बावजूद अपने दृष्टिकोण में न केवल आधुनिक है बल्कि एक बड़े 'विजन' के कवि हैं। ये आदिवासी जब अपने हक अधिकार की बात करते हैं, दुख के लिए फुसफुसाते हैं, तो उनको डराया जाता है, धमकाया जाता है, मारा भी जाता है। वाहरू को दुख इस बात का है कि आदिवासी का दुख व्यवस्थाकारों के लिए अपना दुख कभी नहीं बना। कवि वाहरू की कविता में आदिवासी समाज पूरी विद्रुपता और यथार्थ के साथ व्यक्त हुआ है। जो लोग देश का आदर्शवादी चेहरा सबके सामने लेकर घूम रहे हैं। उन्हें एक बार इस यथार्थ भरी विद्रुपता को देख लेना चाहिए। आदिवासियों ने अपने दुख को स्वयं झेला है। उसका समाधान करने की कोशिश आज तक किसी ने नहीं की है। उनकी मजबूरियों का कोई विकल्प नहीं है। भूखमरी और बेकारी से जूझते हुए वे अपनी इज्जत और शर्म बेचकर पेट भरने को मजबूर हैं। पालमंडी बस्ती कविता में उनकी मजबूरी व्यक्त हुई है —“एक बस्ती/जहां 'पाले' बिछाई जाती है/पेट भरने के खातिर रह जाता है पेट/ उन्हें जहां /बिछानी ही पड़ती है 'पाल' / वही पाल मंडी बस्ती।”² कभी विकासशील भारत ने आम आदमी के लिए रोटी, कपड़ा और मकान जैसी आधारभूत आवश्यकताओं को प्राथमिकता देते हुए नारे लगाये थे। भारत विकासशील से विकसित देशों की श्रेणी में अपना स्थान बनाने के लिए बेताब है; पर इन आदिवासियों को न रोटी मिली, न कपड़ा और न मकान ही। वाहरू सोनवणे की कविता इस बात को पूरी इमानदारी और सच्चाई के साथ प्रस्तुत करती है। वह इस झूठी व्यवस्था को बदलने की भी बात करती है। एक भिलोरी गाना में वे कहते हैं कि “हमें कहते हैं, कहते हैं, रे, आदिवासी/हमारी गिरस्ती पर दूर से ही भूंकते हैं कुत्ते/देखो हमारी गूदड़ झालर वाली/फटी-फटी

आंतड़ियों आई बाहर/खींचो गूदड़ तो चन्दा मामा,
दीखेगा उसमें।³

आदिवासी जीवन ने दुख, दर्द और जख्मों को अपना संगी-साथी बना लिया है। ये दुख दर्द ही उसे संघर्ष की राह दिखाते हैं। उसे सोचने-समझने और अपने अस्तित्व के लिए लड़ने को खड़ा करते हैं। कवि वाहरु 'जख्म' कविता में बयान करते हैं कि "जख्म लिए जीता हूँ मैं, जख्म ही रखते हैं, मुझे जिन्दा, इन्सानियत की राह/जख्म ही दिखाते हैं मुझे"⁴ आदिवासियों के पलायन, औद्योगिकीकरण के कारण विस्थापन और विस्थापन के पुनर्स्थापन आदि सारे मामले आजादी के बाद से अभी तक लंबित पड़े हैं। आजादी के बाद के पहले दशक में ही भारी इंजीनियरिंग कॉरपोरेशन बनी जिसने भारी जमीन ले ली और आदिवासी बेदखल हुए।⁵ वर्षों से ज्ञान, विज्ञान, शिक्षा तथा तदुत्पन्न बदलाव व विकास से कोसों दूर यह समाज आज नये-नये संकटों से गुजर रहा है। माना कि ज्ञान नहीं, शिक्षा नहीं, पर फिर भी उनके अपने हक, अधिकार, जमीन कोई छीन नहीं सकता, पर इस लोकतांत्रिक देश में लोकतंत्र के कर्णधारों, राजनीतिज्ञों, सामंती दबंगों, सेठ-साहूकारों, पूँजीपतियों, उद्योगपतियों द्वारा इनका शोषण किया जा रहा है। इनके शोषण का ताना-बाना पूरे देश में मकड़जाल की तरह बिछा हुआ है। औद्योगिकीकरण और आधुनिकीकरण ने इस समाज के सामने कई नई समस्याएं पैदा कर दी है। राजनीति, शिक्षा, नौकरशाही, पत्रकारिता, साहित्य, ज्ञान-विज्ञान, सरकारी विभागों में न यह वर्ग है और न ही इनकी पक्षधरता करने वाले लोग हैं। जिसके चलते इनकी समस्याएं, शोषण और अत्याचार किसी को दिखाई नहीं देते या छुपाया जाते हैं।

वाहरु सोनवणे की कविता आदिवासी साहित्य लेखन को जबर्दस्त ढंग से महसूस करती है। क्योंकि अब तक साहित्य व चर्चाओं में आदिवासी उपेक्षित व गायब रहे हैं। बल्कि उनको अमानवीय ढंग से दूर रखा गया। केवल उसे भीड़ जुटाने का सामान समझा गया। 'मंच' कविता में वे इस सच को उजागर करते हैं- "हम मंच पर गये ही नहीं, और हमें बुला भी नहीं/उंगली के इशारे से/हमें अपनी जगह दिखाई गयी/हम वहीं बैठ गये, हमें शाबाशी मिली/और वे मंच पर खड़े होकर/हमारे दुख हमसे ही कहते रहे।"⁶ लेकिन उनकी यह बयान बाजी सिर्फ राजनीतिक थी क्योंकि इस दुख दर्द से उनका कोई लेना देना नहीं था, कोई सरोकार नहीं था। इसलिए "हमारा दुख हमारा ही रहा/कभी उनका हो नहीं पाया....।"⁷ जब हम शंका के साथ इस सारे कार्यक्रम के बारे में सवाल करने लगे तो उनके कान खड़े हो गये, उनकी दृष्टि में हमारा स्वयं बारे में सोचना भी किसी अपराध से कम नहीं था। उनकी दृष्टि में हम हजारों वर्षों से मूक रहे और अब भी मूक ही बने रहें। इसलिए वे हमें समझाते हैं- "हमने अपनी शंका फुसफुसायी/वे कान खड़े कर सुनते रहे/फिर ठंडी सांस भरी/ और हमारे ही कान पकड़/हमें ही डांटा/माफी मांगों ; वर्ना...!"⁸ अर्थात् चुप रहो, नहीं तो हमेशा के लिए चुप कर दिये जावेगे। 'पहाड़ हिलने लगा है' कविता आदिवासी चेतना और विद्रोह को दर्शाने वाली कविता है। सदियों से चले आ रहे शोषण

और अत्याचार तथा आदिवासी चेतना की आहट को इस कविता में महसूस किया जा सकता है। आदिवासी को अपने आदमी होने का, अपने हक का और अधिकार का भान होने लगा है, उसे पता लग गया है कि वह जीता जागता इन्सान है और उसके चारों ओर शोषकों और उजाड़ने वालों की भीड़ लगी है। "जो इन लोगों की इन्सानियत छील-छील कर खा गये, वे अभी भी जिन्दा है और इन्सानियत के लहू से चमक रही है चिनगारियां-साम्प्रदायिकता की, पहाड़ हिलने लगा है, उसमें जो आदम दबा है-वह इंसान है।"⁹ लेखक ने अत्याचार की करोड़ों तहों के नीचे दबे-कुचले आदिवासी तथा उसकी चेतना का दृश्य बिम्ब में अंकित किया है।

वाहरु सोनवणे ने अपनी कविता में आदिवासी स्त्री के शोषण, दर्द और अत्याचारों के गहरे ताजे और मार्मिक बिंब अंकित किये हैं। वह एक तरफ आर्थिक विपन्नता के कारण भूख से बेहाल है; जो न स्वयं पेट भर खा पा रही है और न ही बच्चों का पेट ही भर पा रही है। मेहनत मजदूरी करके पेट पालने की कोशिश करती है, पर मेहनत मजदूरी भी हाथ में नहीं है। पाटिल (श्रमिकों का ठेकेदार) आता है पर आधा सेर अनाज में पूरे दिन काम करने की बात करता है, जब वह जाने को उद्यत होती है; तब तक वह भी वहाँ से चला जाता है, घर पर खाने के अनाज का बंदोबस्त नहीं है। पेट में पल रहे बच्चे का भी वह पोषण करने की स्थिति में नहीं है। अत्याचार और शोषण की हजारों परतों से दबी यह मानव प्रतिमा अपनी विवशता में कुन्द है। जिसे जब चाहा, जहां चाहा इस्तेमाल किया। "जवानी में वेश्या, बुढ़ापे में डायन, ऐसे ही कहते हैं लोग/एक ऐसी चीज जिसे घाट में, बांट में/जहां मिले, थाम लो, जब भी चाहे अंग लगा लो, पूरी हुई हवस तो, त्याग दो, न चीख न पुकार।"¹⁰ इसी तरह मेरी मां भारत माता, देवदासी, पालमंडी, मुन्ना संभाल अपने आप को आदि कविताएं आदिवासी जीवन की सत्य कथा का बयान करती है। देवदासी में कवि ने भारत में लड़कियों को देवदासी बनाकर देह शोषण करने पर व्यंग्य किया है-यथा- "एक मुल्क/ जहां देवता को देते हैं लड़कियों का चढ़ावा/मुरगियों-बकरियों के माफिक/ जवान होते-होते/बाहों में भरी/ कोने-कछाले ले जा कर/वापरे लो कौन देखता है?"¹¹ आदिवासी दम घोटू और पाबंदी भरी जिन्दगी जीने को मजबूर है। उनका जीवन बंधुआ मजदूरी और अपमान भरा है। 'आर' कविता में स्थाई बंधुआ जिन्दगी का दर्द और आक्रोश व्यक्त किया गया है। आदिवासी लम्बी-चौड़ी धरा के मालिक होकर भी मजदूर है, एक बंधुआ मजदूर, वह खेतों की मेड़ पर दिन-रात, शर्दी-गर्मी हर विपरीत परिस्थितियों में अभिशप्त जीवन जीने को मजबूर रहता है। 'आर' कविता में कहते हैं कि "जाड़े की ठिठुरती टंड/दादा हमें क्या लगेगी टंड?/हम गरीब लोग/पेट की आग ही इतनी है/कि टंड लगती ही नहीं/दादा! मेरी बस्ती आरों पर खड़ी है/सूरज वहीं उगता है, वहीं डूबता है/मैं 'आर' का खूटा हूँ/मुझे कहते हैं सब लोग 'खूट'जागल्या।"¹² वह आगे अपने दर्द को बयान करता हुआ कहता है- क्याSS बताऊं दादा, आरों का बंधन', बहोऽत बड़ा है...बहोत बड़ा है! लेकिन यह दर्द ही उसे एक दिशा देता है- आक्रोश

और बंधन से मुक्ति की दिशा। और वह कहता है— कभी तो इन आरों को खोदना ही पड़ेगा, फेंकना ही पड़ेगा”¹³

वाहरू की कविता में आदिवासियों की जिन्दगी के कई बिम्बात्मक चित्र अंकित हैं यथा— बेकारी और बेगारी से त्रस्त और लाठियां खाते लोग, आँसू पीते लोग, जलती हुई झोपड़ियाँ, अंधेरे में डूबती हुई झोपड़ियाँ, नन्हें मुन्ने की सिसकियाँ, आधुनिक समाज की हैवानियत से घबराकर चांद पर जाने की कल्पना करते लोग, भूख के मारे पीठ से सटता पेट, नंग-धड़ंग भूखे-प्यासे बच्चे, रोटी के लिए तरसते बच्चे, फटे-पुराने थिगलियां लगे कपड़े, जंगल से कंदमूल फल गायब होते देख चिन्तित आदिवासी, गहन काली रात में भूख और आँसूओं के सहारे रात गुजारते लोग, जागने और बगावत करने पर चांटे खाते लोग, धमकाये जाते लोग, पेट की आग मिटाने के खातिर शरीर का सोदा करती औरतें, पेट भरने के खातिर रहते पेट, अंगड़ाई लेती पहाड़ को हिला देने वाली चेतना, आदमी बनने की ख्वाइस, सदियों से गुलाम बनाये रखने की शाजिश का खुलासा करते लोग, जवानी में वेश्या और बुढ़ापे में डायन कहलाने को विवश औरतें व घट-बांट में अंग लगाते पूँजीपति, ठेकदार, साड़ी की दरार से रिसती हुई शर्म, सपनों पर पाबंदी लगाती व्यवस्था, खूँटे जैसी बंधुआ अवस्था, खूँटों को खोद देने वाली विवश चेतना, घायल होता हुआ विश्वास, जिन्दगी में निरन्तर चुभने वाले कांटों का दर्द, अपनी मैली कुचेली और जिन्दगी भर के आंसुओं से भीगी गुदड़ी रूपी व्यवस्था को उतारे फेंकने की कशमकश आदि। कहते हैं कि मेहनत का फल मीठा होता है; पर वाहरू की कविता के आदिवासियों को इस कड़वी सच्चाई का पता है कि मेहनत का कोई फल ही नहीं होता ‘जख्मों का हांका’ कविता में आदिवासियों की समस्याओं से बेखबर राजनेताओं पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं कि “सत्ता के हरे पत्तों के नीचे सोने वाले, बगुले जनता के जख्मों का नहीं कर पाते हैं इलाज और आश्वासन के फूले हुए फोड़े से खून मवाद बह रहा है, जख्म से जनता बिलबिला रही है।”¹⁴ अर्थात् वर्तमान व्यवस्था के पास इंसानियत के फार्मूले से सोचने का वक्त नहीं है।

‘कोर्ट’ कविता लोकतंत्र की न्याय व्यवस्था का पर्दाफास करती है; जहां कई गुनाहगार बेगुनाह साबित होकर छूट जाते हैं और कानून के माई-बाप /टूटे धागों में/बांधते गांठें, बुनते जाल/मकड़ी के जाले जैसा, दुर्बल जीव-जंतुओं को उलझाने के खातिर!/पर कहता है कानून— मैं सबके लिए हूँ। कवि ने प्रजातांत्रिक न्याय व्यवस्था पर प्रश्न चिन्ह लगाया है जो केवल आदिवासियों की ही आवाज नहीं मालूम पड़ती, कई गरीबों और असमर्थों की भी आवाज हो सकती है। आगे वे कविता में स्पष्ट करते हैं कि न्यायमूर्ति का दिल कैद है पूँजीपतियों और राजनीति से भयभीत चौखट में।¹⁵ कवि वाहरू की नजर आधुनिक मध्यम और उच्च वर्ग की सुख सुविधाओं पर भी गई है और उसकी सुख सुविधाओं तथा अपने में दुबके रहने पर व्यंग्य किया है। ‘चार दिवारी के भीतर’ कविता में वे लिखते हैं कि “चार दिवारी के भीतर/पाखाना, हमाम, चूल्हा/पलंग, पंखा, नल और सब कुछ है/बेल बजते ही दरवाजा खोलकर/आता राशन

और जो कहो, सब कुछ आता/किसी से क्या लेना देना/पेट में अपना कलेजा तो महफूज है ना?”¹⁶

आदिवासी भी सपने देखता है, शान से जीने का और शान से महलों में रहने का; लेकिन जब वह अपनी असलियत अर्थात् यथार्थ को देखता है तो सारे होश हवास गायब हो जाते हैं यथा :- “लेकिन सामने है झोपड़ी/औं फटी चिंदियां, चूल्हे की टंडी राख, गरीबी में टिम-टिम करती/वह फटीचर जिन्दगी, कि/ पत्थर को भी आजाए क्रोध/ऐसा बलात्कार कि/दुख को भी चुभ जाए। ऐसे दुख सहने वाले लोग कि/उड़ जाते हैं होश-/बेहद संताप और गुस्सा जगता कि मरोड़ दूँ गर्दन/ उथल-पुथल मचा दूँ।”¹⁷ यह गर्दन मरोड़ देने और उथल-पुथल मचा देने वाली चेतना ही वाहरू सोनवणे की कविता की ताकत है। वाहरू की कविता भूख, गरीबी और बदहाली के ताजे बिम्ब प्रस्तुत करने में अपना शानी नहीं रखती। उनकी कविता में मां भी भूखी है और मां की कोख में पल रही संतान भी भूखी है। मां के हर ग्रास(आँसू के ग्रास) पर उस पेट में पल रहे भूखे जीव की लपक लेने वाली तीरछी नजर रहती है यथा— “पेट भर खा लो/आंसू ? आंसुओं का क्या?/वे तो रोज ही बहते हैं/आप जीम लो पेट भर.../...और उस मां की कोख से/बच्चे ने मारी तिरछी नजर/मेरे पहले कौर पर।”¹⁸ कवि वाहरू की कविता उन भूखे व्यक्तियों की कविता है जो भूखे मरते-मरते सिसकियों में रात गुजार देते हैं। रात ही नहीं जिन्दगी भी इसी तरह गुजर जाती है। वह मेहनत मजदूरी कर पेट भरते थके हारे मजदूरों की कविता है, यथा— “थका हारा शरीर, झुका-झुका/गैती उठा जमीन से/फिर गिरता जमीन पर/कई-कई गैतियां मदहोश-सी/झुकी-झुकी/खोद रहीं थीं गड्डे/पूरा जोर लगाकर। ताकत झर कर हो गई पानी/ सूखते गले को/तर करने के खातिर।”¹⁹

कवि वाहरू इस धरती पर आदिवासियों की मैली-कुचेली जिन्दगी और झुग्गी-झोपड़ियों को दागनुमा मानते हैं। भारतीय लोकतंत्रात्मक व्यवस्था के लिए यह दाग चुनौति से कम नहीं है; पर उसने इसे चुनौति नहीं माना क्योंकि उस पर इसका ध्यान ही नहीं गया। उसके विकास की सीमा में केवल मुट्ठी भर लोग ही आते हैं। आदिवासियों की जिन्दगी समाचार माध्यमों के लिए सुर्खियां बटोरने का माध्यम भर है; तो दिक्कतों के लिए एक खूब सूरत दृश्य, शेरगाह मात्र। ‘घायल तस्वीर’ कविता में उनके इस कृत्य पर वे व्यंग्य भी करते हैं तो बेजान हो चले जीवित इंसानों के बिम्ब भी तरासते हैं। दूर से आया हुआ दिक्कू पहाड़ के छोर पर लटकता हुआ देहात और देहात में स्त्री को देखकर खुश हो जाता है और केमरा उसकी ओर करके कहता है— “हंसिए, बहन जी, संहिए....थोड़ा...हंसिए.../केमरे ने नजर भिड़ाकर उसे हंसने के लिए/अनुरोध किया। वह ऐसी घायल कि बोली ही नहीं/पल के सहारे/जिन्दगी भर के दुख को धक्का मार/नहीं ला सकी होठों पर मुस्कान। यह दिक्कू उसके इस दुख को नहीं समझ सकता अर्थात् घायल की गत घायल जाने और न जाने कोय।”²⁰ ‘वर्तमान’ कविता में कवि ने भारत के आदिवासियों के वर्तमान परिदृश्य को टी. बी. के मरीज की भांति बताया है। वे कहते हैं कि

“घिस-घिस कर वह /टी.बी.टी.बी. खांसता/आसमान की ओर ताकता— जैसे धरती पर उसका अपना कोई नहीं/फूल रहा था दम/ जोर-जोर से सांस खींचकर/जुटा रहा था हिम्मत/आने वाले भविष्य का खींच रहा था खांका/कर रहा था खून सनी बलगम की कै/और वर्तमान के फेंफड़ों में/थगलियां जोड़ रहा था।”²¹

देश में विकास के लिए बड़ी-बड़ी योजनाएं बनती हैं, बांध बनते हैं और लोग घी के दीये जलाते हैं पर आदिवासी खून के आंसू बहाने को मजबूर हो जाता है, अपनी जमीन से उखड़ जाता है। यही है देश के विकास और आदिवासी के अस्तित्व के बीच विरोधाभास। जिसका सीधा सा कारण है कि योजनाएं आदिवासी सभ्यता, संस्कृति और उसकी जीवन शैली को न तो ध्यान में रखकर बनाई जाती हैं और नही विकास की कीमत चुकाने वाले आदिवासी के हाथ में कुछ आता है। आदिवासी क्षेत्रों में खनन, उद्योग का आदिवासी को कोई फायदा नहीं होता है। उसके घर उजाड़कर उसके रोजगार की कोई गारंटी नहीं लेता है। आदिवासी को खुद की जमीन पर जीवन चाहिए। वे स्वयं जीना सीखें, इस जीवन संसार में स्वावलंबन की दिशा में आदिवासी स्वयं चलना सीखें तब बात बने। कवि ने नर्मदा बांध और आदिवासी की मौत विषय को समेटती कविता ‘मेधा और आदिवासी’ में वे लिखते हैं कि “नर्मदा का पानी जल उठा/संघर्ष की ज्वाला भड़क उठी दरी-पहाड़ियों में/जीवन कैसे जीया जाय-मेधा कहती/समस्या का हल कैसे ढूँढा जाय-मेधा कहती...../उन आदिवासियों का क्या?/इसलिए मेधा’ उनको तैरना सिखा उनको’/स्वावलम्बन की दिशा दिखा/ जिससे वे’ ना रोयेंगे ना आंसू बहायेंगे/आंसुओं की बाढ़ में भी वे तैरेंगे और पार हो जायेंगे/उनकी जान बचेगी और जीवन भी।”²² वाहरू सोनवणे की कविता में आदिवासियों का दर्द कराहता भी है, पर क्रोध में गहरी चोट भी करता है तथा इस बेजान और हैवानियत भरी व्यवस्था को उखाड़ फेंकने की बात भी करता है। लेखक ने हमारी न्याय व्यवस्था पर भी व्यंग्य किया है, रोजगार योजना पर भी और पाटिल के माध्यम से शोषक पूंजीपतियों पर भी व्यंग्य किया है। उनकी कविता थिगलियां जोड़ने को छोड़कर सीधे जड़ पर चोट करने की बात करती है। वे अपनी कविता के माध्यम से परिवर्तनकारी क्रांति की बात करते हैं। यह क्रांतिकारी कदम आग पर चलने के समान होगा, वह इस बात से भी आगाह करता है। “आग में चलकर जाना पड़ेगा/चलते चलो/सनसनाती चलें गोलियां, फिर भी/झंडा लहू का फहराते चलो।”²³ भारतीय लोकतंत्रात्मक शासन व्यवस्था भी सामंती जामा पहने हुए हैं। यहां किसी को सवाल करने का अधिकार नहीं है। सुशासन और मानवाधिकार यहां झूठी शान बघारने और सुखियां बटोरने के माध्यम मात्र है। ‘तब’ कविता में चुप रहने, मार खाने, गांव खाली करने और जेल में बंद होने की मजबूरी को व्यक्त किया है। साथ ही चुपचाप रहकर सहन करने को जमाना अच्छा कहता है, का व्यंग्यात्मक भाव भी उजागर किया है। यथा— “यह ऐसा क्यों है भाई?/किसी ने पूछ लिया तो/गाल हो जाते हैं लाल/नहीं तो कर दिये जाते

हैं बंद जेल में/चाहे जो भी करें वे/हमें बोलना नहीं है—एक भी शब्द/उनके खिलाफ। नहीं कबूल ! तो फेर लो पीठ/जो देखा है, उसे भूल जाओ/बन आए गर जान पर, तो चले जाओ छोड़कर गांव/चुपचाप/सहन करो जो भी हो/तब आज का जमाना/अच्छा कहता है/गरीबों को...!”²⁴ ‘घास का खलिहान’ कविता में भूखा किसान काम करते करते मरघट पहुंच जाता है। यथा घास की क्यारी खोदते-खोदते/दिन ढल गया/अभी तक रोटी का अता-पता नहीं/ खोदते खोदते/ मरघट में पहुंच गई हड्डियां/बित्ते भर पेट के खातिर।²⁵ ‘एक भिलोरी गाना’ में कवि ने रोटी, कपड़ा और मकान तीन आधारभूत सुविधाओं से वंचित बर्बाद जिन्दगी का चित्र खींचा है यथा “हमें कहते हैं, कहते हैं रे आदिवासी/ हमारी गिरस्ती पर दूर से ही भूकते हैं कुत्ते/फट्टियों की झांपड़ी, टाट की थिगली/इधर से घुसा कौवा उधर जा निकला/दूर से ही पहचानते हैं लोग हमारी बस्ती/ हमारी गिरस्ती पर हम ही हंसते/ हंसो-हंसो कितना हंसोगे/ बदलो रे बदलो! सारी दुनिया बदलो।”²⁶

निष्कर्ष

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि कवि वाहरू सोनवणे ने अपनी कविता में जहां एक ओर आदिवासी जीवन के दर्द, भारतीय लोकतंत्र की विफलता और व्यवस्था परिवर्तन की गंभीर बात कही है, वहीं आदिवासियों के संतापों और शोषण की हर गहराई को नापने की कोशिश के साथ ही शोषण के खिलाफ उठती विषम चिनगारी को भी आवाज दी है। ये लोग वर्षों से लोकतंत्र की छाया में भी उपेक्षित और शोषित जीवन जीने को क्यों विवश हैं? क्यों सामाजिक लोकतंत्र और आर्थिक स्वतंत्रता व आत्मनिर्भरता इनके लिए सपने की वस्तु बनी हुई है? देश में परिवर्तन की बात चारों ओर हवा बनकर उड़ रही है। मानवाधिकार और सुशासन के कायम करने की बात जोर-शोर से कही जा रही है; पर इनकी बदहाली ज्यों की त्यों बनी हुई। क्यों इनकी आवाज शासन और प्रशासन के कानों तक नहीं पहुंच पाती है। जब ये ही लोग विवश होकर हाथ में हथियार लेते हैं या इनकी हिमायत कोई करता है तो उसे क्यों मार दिया जाता है या जेल की हवा क्यों खिला देते हैं? आदि ऐसे प्रश्न हैं जो वर्तमान व्यवस्था के लिए यक्ष प्रश्न हैं। इनका समाधान हुए बिना भारत की लोकतांत्रिक निर्माण प्रक्रिया पूर्ण नहीं कही जा सकती। आदिवासी उसी तरह रहने जीने और विकास के हकदार है जितने शेष नागरिक। आदिवासी अशिक्षित और बिखरा हुआ है। “उसका अपना कोई नेतृत्व नहीं है। नेतृत्व तो रहा है, वह मुख्यधारा के लोगों द्वारा उपेक्षित रहा है। जैसे स्वाधीनता आन्दोलन में आदिवासियों की भूमिका महत्वपूर्ण रही है। बिरसा मुंडा, तमाम सारे लोग हैं जो कुछ लोगों के नाम तो सामने आते हैं। तमाम जगहों पर आदिवासियों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी लड़ाइयों में, लेकिन जिस तरह से मुख्यधारा के जो बड़े नायकों को सामने लाया गया। इतिहास में दर्ज किया गया। उस तरह से आदिवासी और दलित नायकों को महत्व नहीं दिया गया।”²⁷ वैश्विकरण, बाजारवाद और औद्योगिकीकरण ने मिलकर आदिवासी को अलग-थलग और बरबाद कर दिया है। वह पलायन,

विस्थापन तथा अपनी जमीन से उखड़ा हुआ, भटकता हुआ, बिखराता हुआ मिटने को अभिशप्त है। उसके सामने विकास और बराबरी का रास्ता नहीं है। जैसा कि अभिषेक कुमार यादव ने लिखा है कि "आदिवासी समाज के जीवन संघर्ष और परिवर्तन की चुनौतियों पर बात करते समय हमारे सामने पूरे विश्व में बिखरे पड़े तमाम आदिवासी समुदाय हैं— अपने अस्तित्व और अस्मिता के लिए संघर्षरत। तथा कथित मुख्यधारा की संस्कृति और सभ्यता ने उनके सामने दो ही रास्ते छोड़े हैं कि या तो वे अपनी अस्मिता, अपना इतिहास, अपनी परंपरा को मिटाकर 'मुख्यधारा' की वर्चस्ववादी संस्कृति को स्वीकार कर लें (यानी उसमें अपना निम्नतम दर्जा स्वीकार कर लें) या फिर भौतिक रूप से पृथ्वी नामक इस ग्रह से अपना अस्तित्व मिट जाने के लिए अभिशप्त हो जाएं—पेरू के माची ग्वेंकाओं या झारखंड के बिरहोर, शबर, कोरबा, असुर या राजस्थान के सहरिया आदिवासी जनजातियों की तरह जिनकी संख्या में लगातार गिरावट दर्ज की जा रही है।"²⁸ निश्चय ही यदि आदिवासी का विकास करना है, आदिवासी को उसकी सम्पूर्णता में बचाना है तो तथा कथित सभ्य समाज और शासन प्रशासन का गंभीर होकर सोचना पड़ेगा। कवि वाहरू सोनवणे की कविता कविता मात्र नहीं वह आदिवासी जीवन की सच्चाई से रूबरू तो कराती ही है, साथ ही आदिवासियों की भावनाओं और प्रश्नों को भी हमारे सामने प्रभावी और बजोड़ ढंग से प्रस्तुत करती है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. पहाड़ हिलने लगा है : वाहरू सोनवणे पृ.सं 7, (मदन कश्यप का वक्तव्य) 22 शिल्पायन पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, शाहदरा, दिल्ली सं. 2009
2. पहाड़ हिलने लगा है : वाहरू सोनवणे पृ.सं. 22 शिल्पायन पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, शाहदरा, दिल्ली सं. 2009
3. वही पृ.सं. 83
4. वही पृ.सं.61
5. आदिवासी दलित संवाद, नवंबर 2010 पृ.सं. 6
6. पहाड़ हिलने लगा है : वाहरू सोनवणे पृ.सं. 18, शिल्पायन पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, शाहदरा, दिल्ली सं. 2009
7. वही पृ.सं.18
8. वही पृ.सं.18
9. वही पृ.सं.17
10. वही पृ.सं.19
11. वही पृ.सं.21
12. वही पृ.सं 25
13. वही पृ.सं 25
14. वही पृ.सं 43
15. वही पृ.सं 42
16. वही पृ.सं 44
17. वही पृ.सं 45
18. वही पृ.सं 47
19. वही पृ.सं 49
20. वही पृ.सं 56
21. वही पृ.सं 57

22. समकालीन आदिवासी कविता सं. हरिराम मीणा पृ. सं. 94-95, अलख प्रकाशन, अजमेर हाई-वे, जयपुर 302019 प्र.सं.2013
23. पहाड़ हिलने लगा है : वाहरू सोनवणे पृ.सं. 59, शिल्पायन पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, शाहदरा, दिल्ली सं. 2009
24. वही पृ.सं 67
25. वही पृ.सं 74
26. वही पृ.सं 84
27. साक्षात्कारों में आदिवासी : सम्पादक दर्गाराव बाणावतु, भीम सिंह एवं रमेशचन्द्र मीणा, पृ.सं. 79 अलख प्रकाशन जयपुर प्र.सं. 2015
28. आदिवासी जीवन-संघर्ष और परिवर्तन की चुनौतियां (संदर्भ-पांव तले की दूब) अभिषेक कुमार यादव का लेख पृ.सं.1)
29. <http://www.debateonline.in>